

स वे पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

गत्पाद्येद् यदि दृष्टि धम द्वय ली वै वै लभ्य =

धर्मः स्वतुष्ठितः पुंसा विष्वकर्मेन कथात्मयः ।

अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मा सुप्रसीदति ॥

मर्वोल्कुष धर्म है वह जो आत्माको आत्मद प्रदायक । सब धर्मोंका अंग रीतिसे पालन करते जीव निरन्तर भक्ति अधोधर्मकी अहैतुकी विष्वशून्य अति मंगलद व्यक्त ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो अम व्यवं सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १८	गौराब्द ४८६, मास—वामन २०, वार—वासुदेव रविवार, ३२ आषाढ़, सम्वत् २०२६, १६ जुलाई १८७२	संख्या २
---------	---	----------

जुलाई १८७२

श्रीमद्भागवतीप श्रीकृष्णस्तोत्राणि

मुनीन्द्रगणकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत १०८४।१६-२६)

यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं विमोहिता विश्वमृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गृह इहया अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥

मुनियोंने कहा—हे भगवन् ! आप मनुष्यलीनामें अपने स्वरूपको प्रच्छन्न रखकर अनीश्वरकी तरह आचरण कर रहे हैं। सलिये मरीचि आदि प्रजापतियोंके अधीश्वर एवं परम तत्त्वज्ञ होकर भी हम आपकी मायाद्वारा विमोहित हो रहे हैं। अहो ! आपका लीलाचरित्र अत्यन्त अविन्दनीय है ॥१६॥

अनोह एतद्वृधंक आत्मना सूजत्यवत्यत्ति न वद्यते यथा ।
भौमंहि भूमिर्बहुनामल्लिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥

भूमि स्वरूपतः एक होनेपर भी घट, शरीर आदि विकार भेदसे जिस प्रकार विभिन्न नाम एवं आकृति धारण करती है, उसी प्रकार आप स्वरूपतः एक एवं अक्रिय होकर भी अपने स्वरूपद्वारा अनेकों प्रकारसे विश्वकी सृष्टि, पालन एवं संहार किया करते हैं, किन्तु स्वयं कर्मफलद्वारा बढ़ नहीं होते । ऐसे परिपूर्ण स्वरूप आपके जन्मादि चरित्र अनुकरण मात्र हैं, वस्तुतः सत्य नहीं हैं ॥१७॥

अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये विभविष सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।

स्वलीलया वेदपथं सनातनं वर्णाश्रिमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥

हे भगवन् ! तथापि आप वर्णाश्रिम धर्मके एकमात्र रक्षक परम पुरुष होनेके कारण भक्तोंकी रक्षा एवं दुष्टोंके दमनके लिये यथासमय शुद्धसत्त्वमय विग्रह धारण करते हैं एवं अपनी लीलासे वेदमार्ग पालन किया करते हैं ॥१८॥

ब्रह्म ते हृदयं शुच्वलं तपःस्वाध्यायसंयमः ।

यत्रोपलब्धं सदव्यक्तमव्यक्तश्च ततः परम् ॥१९॥

हे ब्रह्म ! मनुष्य लोग जिस वेदशास्त्रसे तपस्या, अध्ययन एवं संयमद्वारा व्यक्त (कार्य), अव्यक्त (कारण) एवं इन दोनोंसे अतीत सत्त्वरूप ब्रह्म-वस्तु का सन्धान प्राप्त किया करते हैं, वह वेदशास्त्र आपका विशुद्ध अन्तरंग स्वरूप है ॥१९॥

तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोनेस्त्वमात्मनः ।

समाजयसि सद्वाम तद्ब्रह्माण्याग्रणीभवान् ॥२०॥

हे देव ! यह वेदशास्त्र ही आपकी उपलब्धिके विषयमें एकमात्र प्रमाण है एवं ये ब्राह्मण लोग ही उस वेदशास्त्रके एकमात्र प्रचारक होनेके कारण आप अपने उपलब्धिस्थान-स्वरूप इस ब्राह्मण-कुलकी पूजा करते हैं, अतएव आप ब्रह्माण्य व्यक्तियोंके अग्रणीरूपसे कर्मका आचरण कर रहे हैं ॥२०॥

अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।

इद्या संगम्य सदगत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥२१॥

अभी हमने साधुजन-शरण आपका संग प्राप्त कर विद्या, तपस्या, चक्षु एवं जन्मका साफल्य प्राप्त कर लिया है । क्योंकि आप निखिल मंगलसमूहोंके पराकाष्ठा स्वरूप हैं ॥२१॥

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।

स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥२२॥

हे प्रभो श्रीकृष्ण, अपनी योगमायाके बलसे गूढमाहात्म्यशाली, असीमबुद्धि, सर्वात्म्यामी परम पुरुष भगवान् आपको हम प्रणाम कर रहे हैं ॥२२॥

न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृण्णयः ।

मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥

हे भगवन्, आप साधारण लोगोंके नेत्रोंके सम्मुख मायाकी जबनिका द्वारा समावृत होनेके कारण ये राजा लोग, विशेषकर और लोगोंकी तो बात ही क्या, आपके साथ सर्वदा एकत्र विहार करनेवाले यादव लोग भी परमात्मा सर्वान्तर्यामी कालरूपी आपको जान नहीं सकते ॥२३॥

यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वद्वक् ।

नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥

एवं त्वा नाममात्रेषु विषयेऽधिन्द्रियेहया ।

मायया विभ्रमच्छित्तो न वेद स्मृत्युप्लवात् ॥२५॥

हे देव ! स्वप्नदशामें तात्कालिक विषयसमूहमें सत्यबुद्धि सम्पन्न पुरुष जिस प्रकार अपनेको मनःकल्पित अयथार्थ सिंह-व्याघ्रादि रूपसे दर्शन कर अपने वैसे स्वरूपको ही सत्य समझता है, परन्तु उसको छोड़कर देवदत्तादि यथार्थ स्वरूप अवगत नहीं होता, उसी प्रकार स्वप्नतुल्य विषयसमूहमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप मायाद्वारा विमोहित-चित्त होकर मनुष्य लोग विवेकबुद्धिके विवादके कारण आपका स्वरूप जान नहीं सकते ॥२४-२५॥

तस्याद्य ते ददृशिमां व्रिमघोषमर्थ-

तीर्थास्पद हृदि कृतं सुविपक्वयोगः ।

उत्सित्कभक्त्युपहृताशयजीवकोशा

आपुभंवदगतिमधानुगृहाण भवतात् ॥२६॥

हे भगवन् ! आपका जो पादपद्म सर्वपापविनाशिनी गंगादेवीका आश्रयस्वरूप है एवं सुपरिपक्व योगबल-सम्पन्न महापुरुष लोग भी सर्वदा हृदयमें जिनका किया करते हैं, हम अभी उस चरणकमलका दर्शन प्राप्त करने में समर्थ हुए हैं। अतएव हमें अपना भक्त बनाकर अनुगृहीत करें, क्योंकि आपकी अत्यन्त तीव्र भक्तिके बलसे जिनका अन्तःकरण रूप जीवकोश विशेषरूपसे ध्वंस हो गया है, ऐसे पुरुष ही पूर्वकालमें वैकुण्ठ-धाम प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं, उसमें और कोई समर्थ नहीं हुए हैं ॥२६॥

॥ इति मुनीन्द्रगणकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं समाप्तम् ॥

॥ इति मुनीन्द्रगणकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णनाम-संकीर्तनकी सर्वश्रेष्ठता

(गतांक, पृष्ठ १० से आगे)

श्रीकृष्णनामका पुनः-पुनः उच्चारण ही हमें समस्त प्रकारका सुयोग प्रदान करेगा। हमें एकमात्र उसी उपाय और उपेयको ग्रहण करना होगा। क्योंकि स्वयं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी कीर्तन किया है—

नाम्नामकारि बहुधा निजस्वंशक्ति-
स्तत्रापिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एताहशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्देवमीहशभिहाजनि नानुरागः ॥

भगवानकी अपनी समस्त शक्ति अप्राकृत भगवन्नाममें ही वर्तमान है। “अपनी शक्ति” कहनेसे उनकी बहिरंगा मायाकी शक्ति या क्रिया अप्राकृत नाममें नहीं है, यही सूचित होता है। कृष्णकी निजस्व जितनी भी शक्ति है, वह अप्राकृत नाममें पूर्णमात्रामें विराजमान है। अतएव पूजा-ध्यानादिके लिये श्रीनाम-ग्रहणकारीको पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। श्रीहरिनाममें स्थान, काल, पात्रका भी विचार नहीं है। पूजा, ध्यान, आदि साधनोंमें स्थान, काल, पात्रका विचार वर्तमान है। जिस परम उपाय एवं उपेयमें स्थान-काल-पात्रका विचार नहीं है, उसे स्थान-काल-पात्रके विचाराधीन अन्यान्य साधनोंके साथ समतामें गणना करना दुर्देव का लक्षण है। अप्राकृत नामको दूसरे साधन हारा सम्पूर्ण करनेकी चेष्टा भी दुर्देवका दूसरा लक्षण है। अप्राकृत नामको प्राकृत शब्दोंके

साथ समान समझकर दूसरे-दूसरे कर्माडम्बर, ज्ञानाडम्बर, योगाडम्बर एवं व्रताडम्बरके लिये आयह भी दुर्देवका ही लक्षण है।

कृष्ण अखिल रसामृतमूर्ति है। शान्त, दास्य, सञ्चय, वात्सल्य और मधुर—ये पाँचों मुख्य रस तथा उनके परिपोषक वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, करुण, अहुत, हास्य—ये सातों आगन्तुक गौण रस कृष्णका आश्रय लेकर ही पूर्णरूपसे वर्तमान हैं।

इस जड़ जगतमें भी नश्वर जड़ीय सम्बन्ध से इन सभी रसोंका हेय प्रतिफलन देखा जाता है। प्राकृत अलंकार-शास्त्रमें भी इन सभी रसोंकी आलोचना सुनी जाती है। हमें प्रत्येक व्यक्ति ही उक्त मुख्य पाँच रसोंमें से किसी न किसी रसके द्वारा दूसरोंके साथ सम्बन्धयुक्त हैं। प्रथम, शान्त रसमें निरपेक्ष अवस्थान है, दूसरे, दास्य रसमें प्रभु और भूत्यका अवस्थान है, तीसरे, सञ्चय रसमें बन्धु और बन्धुका अवस्थान है, चौथे, वात्सल्य रसमें माता-पिता और पुत्रका अवस्थान है एवं पाँचवें, मधुर रसमें पति और पत्नीका अवस्थान है। बन्धु और बन्धुका अवस्थान दो प्रकारसे हैं—एक तो संभ्रम या गौरवके साथ है और दूसरा विश्रम्भके साथ बन्धुत्व है। विश्रम्भ बन्धुत्व कोई-कोई विचारक ग्रहण नहीं कर पाये। दक्षिण प्रदेशमें ही कई विचारकोंको विश्रम्भ बन्धुत्वका सौन्दर्य

उपलब्धि करते नहीं देख पाया । उन लोगोंने शान्त, दास्य एवं सख्याद्वार्द्ध अर्थात् गौरव-सख्य तक ग्रहण किया है । उनके विचारानुसार हम विष्णुके निकट हाथ जोड़कर दूरसे दण्डबत-प्रणाम एवं पूजा-मात्र कर सकते हैं । किन्तु उन्हें अपना अत्यन्त प्रिय बन्धु समझकर उनके कन्धेपर चढ़कर, उन्हें उच्छिष्ठ भोजन कराकर भी उनकी प्रीति, मुख उत्पादन करते हुए श्रेष्ठ सेवा की जा सकती है—यह बात बहुतसे व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाये ।

कोई-कोई परमेश्वरको पितृत्वमें स्थापन किये हैं, किन्तु परमेश्वरको पुत्रत्वमें स्थापन कर उनके आविर्भावके समयसे किस प्रकार अखिल भुवनपति परमेश्वरकी भी लाल्य-पाल्य विचारसे अत्यन्त विश्रम्भ सेवा की जा सकती है, यह बात बहुतसे व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाये । जिन लोगोंने परमेश्वरको पुत्रके रूपमें स्वीकार किया है, वे भी परमेश्वर-पुत्रके ऐश्वर्यद्वारा मुग्ध होकर उन्हें परमेश्वर रूपसे दिलखाये हैं । किन्तु परमेश्वरका अनन्त ऐश्वर्य जहाँ उनके पुत्रत्वके पूर्ण प्रभावका संकोच नहीं कर सका, ऐसे पुत्रत्वका विचार बहुतसे व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाये । ब्रजराज एवं ब्रजेश्वरी जिस नित्यपुत्र परमेश्वरको पालन योग्य समझकर बन्धनमें डाल देती हैं, परमेश्वर भी नित्यपुत्र रूपसे जिनके आङ्गनमें घुटनोंपर रंगते हैं, ऐसा पुत्रत्वका विचार कई विचारक ग्रहण नहीं कर पाये ।

पति-पत्नीका विचार कई व्यक्ति स्वीकार करने पर भी एक-पत्नी एवं एक-पतिका नैतिक विचार बहुतसे व्यक्तियोंने स्वीकार किया है । कोई-कोई परमेश्वरको गान्धवंशीतिसे बहुवल्लभ रूपमें दर्शन किये हैं । किन्तु

अनूढ़ा (अविवाहिता) एवं परोढ़ा (परपुरुष द्वारा विवाहिता) ललनाकुलके कान्त रूपसे परमेश्वरकी उपलब्धि करनेमें कई विचारक समर्थ नहीं हुए हैं । जहाँ जागतिक सम्बन्ध है, वहाँ विश्रम्भ विचार या माता-पिता और पुत्र अथवा कान्तके विचारकी हेतु अवश्य वर्तमान रहेगी । किन्तु जहाँ प्राकृत सम्बन्ध या प्राकृत विधय-आश्रयका समावेश नहीं है, जहाँ प्राकृत विभाव, अनुभावादि सामग्रीका कोई प्रसंग नहीं है, जहाँ अस्थायी भाव या विरति नहीं है, वहाँ कदापि हेय रसका प्रसंग उठ ही नहीं सकता । विम्बमें जो वस्तु जितना उच्चत है, प्रतिविम्बमें वह वस्तु ही उतना अवनत है । विम्बमें जो वस्तु जितना उपादेय एवं चमत्कारपूर्ण है, वह वस्तु ही प्रतिविम्बमें उतना ही अनुपादेय एवं अशोभन है । इसलिये स्वराट् लीला-पुरुषोत्तमके साथ जहाँ सम्बन्ध है, वहाँ विद्वत् प्रतिविम्बजात किसी हेय रस का प्रसंग नहीं है । किन्तु प्रतिफलित प्रतिविम्बमें जो अत्यन्त अवनत है, वह अविकृत अप्राकृत विम्बमें उच्चत उज्ज्वल रूपसे संप्रकाशित है ।

यदि प्राकृत सम्बन्धमें पांचों प्रकारके रस का अस्तित्व देखा जाता है, तो अप्राकृत संबंध मात्रमें अद्वाई प्रकारका सम्बन्ध स्वीकार करने पर अप्राकृतकी विचित्रताकी अपेक्षा प्राकृतकी विचित्रताका संख्याधिक्य मानना होगा । किन्तु यह शास्त्र-विरुद्ध बात है । अखण्ड, अनन्त, नित्य नवनवायमान अप्राकृत वैचित्र्यका खण्ड, सीमित, अनित्य, एकतरफा प्रतिफलन ही प्राकृत वैचित्र्य है । विम्बमें जो नहीं है, वह प्रतिविम्बमें प्रतिफलित नहीं हो सकता । विम्बमें जो है, प्रतिविम्बमें वह

विकृत रूपसे प्रतिफलित होता है। यही नित्यसिद्ध सत्य है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने इसी भागवतीय सत्यका दक्षिण भारतमें प्रचार किया था।

श्री श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने बतलाया है कि एकमात्र श्रीकृष्ण-संकीर्तन या श्रीकृष्ण-नामोच्चारण द्वारा ही अखिल रसामृत-मूर्त्ति नामी भगवान्‌के रससिन्धुमें सर्वात्मस्तपन होता है।

हमें अविमिश्र चेतनका संस्पर्श या सन्धान प्राप्त करना होगा—जिस चेतनका जगतके साथ कोई मिश्रण नहीं है, जो चेतन आवरण-रहित होकर उनकी नित्यसिद्धा वृत्तिमें जागरुक है, जो चेतन विश्रम्भ भावसे पूर्ण चेतनकी पूर्णसेवामें तत्पर हुए हैं। किन्तु यदि केवल हम हृत्रिम अनुकरणप्रिय बनें, तो कदापि मंगलके पथपर अग्रसर हो नहीं सकते। जिनकी सार्वकालिकी सर्वाङ्गमयी चेष्टा पूर्ण-तम चेतनके सुखतात्पर्यमें अविच्छिन्न अहेतुक रूपसे नियुक्ते हैं, उनके अनुसरणके द्वारा ही मंगल प्राप्त होगा।

अप्राकृत रस भावनाके पथ मनको अतिक्रम कर शुद्धसत्त्वोज्ज्वल चेतनके चमत्कारात्मियके भाण्डार-स्वरूप स्थायी भावरूपसे संचारित होता है। वह कृत्रिमता या अनुकरण के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अनुररणकारी विनाश प्राप्त होता है।

आत्माको मन, बुद्धि, अहंकारके साथ एकाकार नहीं करना होगा। पाश्चात्य देशोंके बहुतसे व्यक्तियोंने एवं भारतीय कर्मजड़ संप्रदायके बहुतसे व्यक्तियोंने मनको आत्माके साथ एकाकार करनेका प्रयास किया है। निर्भेद ज्ञानियोंने मनसे चेतनको पृथक् करने जाकर

आत्माके अस्तित्वको एकदम अस्वीकार कर दिया है। किन्तु श्रीगीतोपनिषद्में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टुधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो यथेदं धार्यते जगत् ॥

(गीता ७।४-५)

हे अर्जुन मेरी अपरा या जड़ा प्रकृति नूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ भागोंमें विभक्त है। इसके अलावा मेरी एक और परा प्रकृति है। वह प्रकृति चैतन्यस्वरूपा एवं जीवभूता है। उस शक्तिसे जीवसमूह निकलकर जड़जगतको भोग्यरूपसे ग्रहण किये हुए हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

(गीता १५।७)

जीव—सनातन अर्थात् नित्य है। मुक्त दशामें जीव सम्पूर्ण रूपसे मदाश्रित एवं प्रकृति-सम्बन्ध शून्य है। बद्धदशामें जीव अपनी उपाधिरूप प्रकृतिस्थित मन और पाँच वाहोंनिद्र्य—इन छः हन्दियोंको अपने तत्त्व-वोधसे आकर्षण किया करता है।

हमारा स्वरूप-निर्णय होने पर अर्थात् हम जो पूर्ण चेतनके विभिन्नांश हैं, इसकी उपनिधि होने पर हमारा अवस्थान जटूट हो सकता है। तब हम हमारे नित्य-जीवनके पथ पर अग्रसर हो सकते हैं।

दक्षिणदेशमें श्रीकृष्णव-सम्प्रदायके व्यक्ति अत्यन्त सम्भ्रमके साथ श्रीलक्ष्मी-नारायण-की पूजा करने के लिये अग्रसर होते हैं एवं श्रीमद् आनन्द-तीर्थ मध्वाचार्यके अधस्तन

तत्त्ववादी व्यक्ति भी बालकृष्णकी उपासना किया करते हैं, किन्तु श्रीलमाधवेन्द्रपुरीपादकी वाणी एवं शिक्षामें हम विश्वम्भ-सेवाका सौन्दर्य देखपाते हैं—

श्रुतिमपरे स्मृतिमिलरे

भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः ।

अहमिह नन्दं बन्दे

यस्यालिन्दे परं वहा ॥

मैं केवल महाभारत और गीता अथवा श्रुति या स्मृतिमें आबद्ध नहीं रहूँगा, किन्तु मैं नन्द महाराजकी उपासना करूँगा, जिनके मणिमय आँगनमें परमबहा भगवान् श्रीकृष्ण स्वच्छन्द रूपसे घुटनोंके बलपर रेंगते हैं।

ऐसा विचार या भगवत्प्रीति की आस्तिकता अत्यन्त विस्तृत धारणा है। श्रीभगवानके पुनर्त्वका विचार श्रील माधवेन्द्रपुरीपाद एवं उनके अनुगमनकारी भवतोंकी लेखनीमें पाया जाता है। भगवानका कान्तत्व विचार भी किसी दिन हमारी तरह पतित जीवोंके निकट प्रचुररूपमें प्रचारित हुआ था। यह कितनी बड़ी बात प्रचारित हुई थी! हमारे निर्मल चेतनके निकटही इसका प्रकाश किया गया था। 'कृष्णकण्ठमृत' और 'ब्रह्म-संहिता नामक दो ग्रन्थ श्रीकृष्णचेतन्य महाप्रभुने दक्षिण भारतसे ही संग्रह किया था। श्रीकृष्णचेतन्यमहाप्रभुने एक समय उक्त दोनों ग्रन्थोंका परिशिष्ट-विचार श्रीराधरामानन्दके श्रीमुखसे स्वयं बक्ता होकर दक्षिण देशके राजमहेन्द्रीके निकट कब्बूर नामक स्थानमें प्रकाशित किया था। श्रीरूपगोस्वामी प्रभु एवं उनके अनुचरोंके हृदयमें वे सभी परिशिष्ट बातें प्रकाशित हैं।

श्री श्रीलरूपगोस्वामी प्रभुने जगत्को आशीर्वाद देकर कहा है—श्रीकृष्णचेतन्यदेवकी

अनर्पितचरी (चिरकालसे अप्रदत्त) बाण प्रत्येक चेतनमें संचारित हो, प्रत्येक भगवद्भूत के हृदयमें श्रीचैतन्यवाणी स्वाराज्य-सिंहासन प्राप्त करें। इतने दिनों तक श्रीमद्भागवत की वाणीको साधारण व्यक्ति उनकी पूर्णतमा वृत्तिमें भली प्रकारसे समझ नहीं पाते थे। श्रीकृष्णचेतन्यदेवकी वाणीमें भागवती वाणीकी मुक्ति-प्रग्रह वृत्ति-पूर्णतम विद्दू-रूढ़ि वृत्ति प्रकाशित हुई है।

श्रीकृष्णचेतन्यदेवने जीवहृदय पर पुनः पुनः आधात कर कहा है कि समस्त प्राकृत विचारके बन्धनसे मुक्त होकर एकमात्र उन्मेषित चेतनस्वरूपके अप्राकृत सहजप्रीतिमय सर्वांगीण भजनके द्वारा ही अखिल रसामृत मूर्तिके निकटतम प्रदेशमें जाना होगा। अप्राकृत राज्यमें प्राकृत राज्यका चितास्त्रोत या अनुमान होकर नहीं ले जाना होगा, यह बात सर्वदा ही स्मरण रखनी चाहिये। नहीं तो आस्तिकताके प्रथम सोषानके द्वारमें भी प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं होगा।

जब दण्डकारण्यवासी साठहजार कृष्णलोगोंने श्रीरामचन्द्रके रूपसे मुग्ध होकर उनकी आलिङ्गन-कामना की थी, उस समय भगवान् श्रीरामचन्द्रने उन्हें अपनी श्रीकृष्णलीलाके लिये अपेक्षा करनेकी बात कही थी। इससे हम यह भी जान सकते हैं कि समस्त प्रकार के नैतिक उपदेश जगतकी सीमामें ही आबद्ध है। अप्राकृत चेतन राज्यमें प्राकृत नीति या दुर्नीतिके लिये कोई स्थान नहीं है। दुर्नीतिक व्यक्ति अपने पशुत्व-भावको लेकर धर्म राज्यके (परमार्थ राज्यके) द्वारमें ही प्रवेश नहीं कर सकते। दण्डकारण्यवासी कृष्णलोग उनके माता-पितासे जो शरीर प्राप्त किए थे, उन्हें

भगवान् श्रीरामचन्द्रने नहीं ग्रहण किया । पूर्ण चेतन परमेश्वर-वस्तु प्राकृत पुरुष और प्राकृत स्त्री देहकी आकांक्षा नहीं करते । दण्ड-कारण्यवासी ऋषिलोग खीबेश ग्रहण कर सकते थे, खी-सज्जामें सज सकते थे, किन्तु ऐसी कृत्रिमताके द्वारा कदापि पूर्णचेतनकी प्रीतिका संचार नहीं हो सकता । भगवान् अप्राकृत एवं पूर्णचेतन वस्तु हैं । अप्राकृत चेतन जीवकी अप्राकृता प्रीतिमया सेवा द्वारा ही उनका आदर हो सकता है । अक्षज वस्तु कदापि अधोक्षजकी प्रीति या आकर्षणकी वस्तु नहीं हो सकती । कृष्ण और कृष्णनाम अधोक्षज वस्तु हैं । “अधः कृतं अक्षजं बद्धजीवानां इन्द्रियज ज्ञानं येन स एव अधोक्षजः” । अर्थात् जो बद्धजीवोंके इन्द्रियज ज्ञान या इन्द्रियतर्पणको सम्पूर्णरूपसे निरस्त करते हैं, वे ही ‘अधोक्षज’ वास्तव वस्तु हैं ।

प्राकृत इन्द्रिय-समूह बहिर्जगतके कार्योपयोगी करण-विशेष हैं । प्राकृत इन्द्रिय-समूह की गतिकी निर्दिष्ट सीमा है । बहिर्मुखिनी इन्द्रिय-वृत्ति कदापि अप्राकृत वस्तुका सन्धान नहीं प्रदान कर सकती । बहिर्मुखिनी मेघाके द्वारा जिस विषयकी चिता की जाती है, जो ध्यान किया जाता है, जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है—ऐ सभी ही प्राकृत या मनो-पर्म-विशेष हैं । एकमात्र अप्राकृत वस्तुके चरणोंमें सम्पूर्ण रूपसे आत्मसमर्पण ही इन्द्रियोंको उन्मुख करनेका उपाय है । ऐसी सेवोन्मुखी इन्द्रियोंमें अप्राकृत श्रीनाम स्वयं ही स्फूर्ति ग्रास करते हैं एवं सेवोन्मुखताके विकासके साथ-साथ अप्राकृत श्रीनाम उनके अप्राकृत रूप, अप्राकृत गुण, अप्राकृत परिकर और आप्राकृत लीलासमूह प्रकाशित करते हैं ।

अप्राकृत वस्तु भगवान् हमारे वर्तमान करणोंके द्वारा उपलब्धिके विषय नहीं हैं, यह बात श्रीकृष्णचैतन्यदेवने एवं ग्रन्थराज श्रीमद्भागवतने पुनःपुनः बतलाया है । यहीं जागतिक व्यक्तियोंका विवर्तं उपस्थित होता है, इसीलिये पुनःपुनः जोर देकर इस बातका हमें उपदेश दिया है । समस्त जागतिक सिद्धान्त-संगति कदापि हमें अप्राकृत राज्यके सिद्धान्त और संगतिके सम्मुख ले जानेमें समर्थ नहीं हैं, बल्कि वे अप्राकृत राज्यमें प्रवेशके लिए महाविघ्न स्वरूप हैं । जागतिक धारणा, न्याय, सिद्धान्त, युक्ति आदिकी अप्राकृत राज्यकी ओर चालना करनेका नाम ही ‘तकंपथ’ है । अप्राकृत कथाका अवतरण होने पर उसमें कर्ण नियोग करना एवं इस प्रकार की सेवोन्मुखता द्वारा अवृत्ति प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवावृत्तिके साथ अप्राकृत राज्यकी वार्ताका अनुसंधान करना ही धौतपथ है । इसलिए इन्द्रियजात विचार जगतके कार्योपयोगी होने पर भी हमें अप्राकृत राज्यमें नहीं ले जा सकते । द्वितीय अभिनिवेशके राज्यमें या बहिर्मुख इन्द्रियोंके विचार यथमें जो कुछ भला-नुरा विचार किया जाता है, वे सभी ही मनोधर्म हैं ।

इस जड़ जगतमें हम सभी वस्तुओंको ही संभ्रमयुक्त आधार पर स्थापन कर उनका शेषत्व निरूपण करते हैं । अतएव जब हम देखते हैं कि उस संभ्रमयुक्त अवस्थाका अतिक्रमण कर विश्रम्भ भावकी अवतारणा होती है, उस समयमें हम उसमें शेषत्वके विचारकी रक्षा नहीं कर पाते । हम यह सोचते हैं कि अप्राकृत वस्तुभी संभ्रमता-रहित होनेके कारण शेषत्वकी पदबीसे विच्छुत हो गई ।

किन्तु जहाँ समस्त कुण्ठधर्म निरस्त हए हैं, वहाँ वैकुण्ठ है। वैकुण्ठ कदापि जागतिक-धारणा और वृत्तिके क्षेत्रमें कवलित नहीं हो सकते। जागतिक धारणा तृतीय मानके राज्यमें अवस्थित है। हम तुरीयको तृतीय मानकी धारणाद्वारा आक्रमण नहीं कर सकते। जो व्यक्ति वैकुण्ठ-विचित्रता स्वीकार नहीं करते, वे लोग नास्तिक कपिल और बीदके पताका-वाहक व्यतीत और कुछ भी नहीं हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान ही उनके सिद्धान्तके प्रमाण हैं। जड़ जगतकी विचित्रताकी हेयता और नश्वरताका अनुभव कर वे लोग वैकुण्ठगत विचित्रता-में हेयता और नश्वरताका अनुमान किया करते हैं। वे लोग सभी प्रकारकी विचित्रताओं के स्तरव-भावका ही अत्यधिक आदर करते हैं।

किन्तु परवर्त्त्य नित्य-शक्तिमान हैं। उनकी शक्तिकी विचित्रता है। वे पुरुषोत्तम हैं। विष्णुमें ही पूर्ण वास्तव ज्ञान वर्तमान है। उनकी पूर्णतम प्रतीतिकी प्रीतिमयी उपासना को छोड़कर हमारे लिए और कोई गति नहीं है।

डा० रामगोपाल भाण्डारकरने लक्ष्मी-विरहित अकेले वायुदेवकी उपासनाकी बात कही है। किन्तु चिन्हशक्तिके विचारको छोड़कर पुरुषोत्तमकी प्रतीतिकी पूर्णता साधित नहीं हो सकती, वह एकतरफा विचार मात्र है। विष्णुके सिद्धान्त, शंख, गदा चक्र, पद्म आदिका नपुंसकत्व स्वीकृत होता है। शत-सहस्र लक्ष्मयोद्वारा सेवित पुरुषोत्तम विष्णु ही पूर्ण प्रतीतिमें वैकुण्ठमें विराजमान है। शत-सहस्र सेवक चिन्हशक्ति-समन्वित विष्णुकी उपासना करते हैं।

निविशेषवादी इसे उनके द्वंतज्ञानमें या द्वितीयाभिनवेशयुक्त भद्राभद्रके विचारमें स्वीकार नहीं कर सकते। सन्देहवादी, नास्ति-वयवादी, सगुणवादी, बलीव-ब्रह्मवादी आदि सभी ही चरममें एक नास्तिकतामें ही आत्म-विलीनताकी आकांक्षा करते हैं। इन्द्र, वायु, वरुण आदिकी उपासना सगुण उपासनाके अन्तर्गत हैं। अन्तर्यामी-दर्शनका व्यभिचार सगुण उपासकोद्वारा साधित होता है। वस्तुतः अनिरुद्ध विष्णु ही सभी देवता, मनुष्य और जीवोंके नित्य अन्तर्यामी हैं। अन्तर्यामी पुरुष अनित्य या निविशेष नहीं हैं। वे नित्य नामी, नित्यरूपी, नित्य-गुणी, नित्य-लीलामय और नित्य परिकर-वैशिष्ट्य युक्त हैं। अन्तर्यामी, व्यूह, परतत्व, अर्चा आदिका विचार श्रीलोकाचार्यपादने सुन्दररूपमें प्रदर्शन किया है।

सगुण उपासना जन्म, स्थिति और लयके अन्तर्गत है। सगुण उपासनाको जीवित रखनेके लिये ही तथाकथित निर्गुण उपासनाकी कल्पना की गयी है। सगुण उपासना करते करते चरममें उपासक, उपासना और उपास्यकी त्रिपुटी नहीं रहेगी, यही तथा-कथित निर्गुण उपासनाकी प्रतिज्ञा है। किन्तु ये दोनों प्रकारके आरोहवादी ही प्रत्यक्ष और अनुमानपर प्रतिष्ठित हैं एवं दोनों मत ही नास्तिकताके निर्दर्शन और पौत्रलिकता दोष युक्त हैं। पुतली तयार करना और पुतली तोड़ना—ये दोनों कार्य ही पौत्रलिकताके अन्तर्गत हैं। आस्तिक सम्प्रदाय iconographer(पुतली गठनकारी) या iconoclast(पुतली तोड़नेवाले) नहीं हैं।

श्रीरामानुजाचार्यपादने चित्, अचित् और चिराचित्के ईश्वरको स्वीकार किया

है। 'केवल चिद' वृत्ति भगवानको निजस्व सम्पत्ति है। जब हमारे भीतर वर्त्मान अनर्थ दूर हो जाते हैं, तब ही हमारी विशुद्ध चेतन-वृत्तिकी क्रियाकी उपलब्धि होती है। श्रीकृष्णचेतन्यदेवने शक्ति परिणामवाद स्वीकार किया है। अचिन्त्यभेदभेद-वादमें ही आस्तिकताका सम्पूर्णतम सौन्दर्य सम्प्रकाशित हआ है। जड़ सविशेषको कदापि चित्-सविशेष के साथ एकाकार करना उचित नहीं है। चित्-सविशेषके सिद्धान्तमें श्रीबेंकटेश्वर आविर्भूत हए।

पाठ्यात्य लेखक भी भारतीय मनोधर्म सम्प्रदायकी विकृत मतवादध्वनिकी प्रतिव्यनि ही उत्पन्न किये हैं। Macnickel (मैनकल) साहबके 'Indian Theism आदि ग्रन्थोंमें श्रीराधाकृष्णकी उपासना की अपेक्षा श्रीलक्ष्मीनारायणकी उपासनाका श्रेष्ठत्व-विचार प्राकृतिक नैतिक-विचारके आधारपर स्थापित हआ है। आध्यक्षिक लोगोंकी ये सभी संकीर्ण धारणाएँ और भी उदारता प्राप्त करें, यही बांहनीय है। हम इन सभी मतोंको ग्रहण करनेके पहले सूब सतर्कता अवलम्बन करें। अप्राकृत, अद्वितीय भोक्तृत्व स्वराट् पुरुषोत्तमको प्राकृत नीतिके निगड़में आवद्ध कर और आध्यक्षिकताकी संकीर्णताको बड़ा बनाकर हम अप्राकृत विश्वम्-सेवाके प्रति अनादरयुक्त नहीं हों या विश्वम्-सेवा का अपव्यवहार न कर बैठें—इसके लिये सावधान होता आवश्यक है। श्रीकृष्णचेतन्यदेवने इसीलिये हमें उनकी वाणी श्वेता करायी है।

श्रीकृष्णचेतन्यदेवकी वाणी जातिगत, देशगत, समाजगत, कालगत आदि संकीर्ण

विचारके अन्तर्गत नहीं है। वह सभी देश, सभी काल एवं सभी चेतनोंके लिये एकमात्र अमोघ कल्याणकारिणी है। श्रीकृष्णचेतन्यदेवकी वाणी पृथ्वीमें सर्वत्र प्रचारित होकर सभी अकपट सत्यानुसंधानकारी व्यक्तियोंका नित्यमंगल विधान करेगी। श्रीचेतन्यदेवकी वाणीकी तरह सर्वथेष्व विचार और कहीं भी प्रकट नहीं हआ है। इतना महान, उदार और मधुर संदेश इस भूमण्डलमें और किसी भी समयमें प्रकाशित नहीं हुआ है। इस वाणीमें आस्तिकताका पूर्णपल्लवित महानतम वृक्षराज प्रकटित हुआ है। यह वाणी जीवमात्रके उन्मुक्त कणोंमें एकद्वार प्रवेश करने पर निश्चय ही अभिनंदित होकर ही रहेगी। हमारे निर्मल चेतनकी पूर्णतमा आकांक्षाकी जो अवधि है, उसे एकमात्र श्रोचेतन्यदेवकी वाणी ही प्रदान कर सकती है। श्रीचेतन्यदेवकी जित वाणीने हमारे समस्त मनोधर्मको विनष्ट कर श्रीमद्भागवतकी दाणीको ही सुषुरूपसे प्रकाशित किया है, उसी वाणी-श्वेता कोटि इन्द्रियोंको नियुक्त करना आवश्यक है। श्रीचेतन्य-वाणी श्वेता करने पर हम अप्राकृत श्रीनाममें ही सर्वज्ञता, सर्वसौन्दर्य और सर्व चिदविलास दर्शन कर पाते हैं। दुर्भाग्यके कारण मनोधर्मके प्रति जलायमान होनेके कारण एकमात्र अप्राकृत नाममें सर्वसिद्धि सम्यक् प्रकारसे वर्त्मान रहने पर भी हम उस प्रचुर कृपाके भाग्डारका परित्याग कर अन्यान्य कल्पित नश्वर मन्दोदय दयापूर्ण साधन और सिद्धिकी आकांक्षा करते हैं।

मैंने आज आपलोगोंके निकट विश्वाष्टकके केवलमात्र दो लोक, श्रीचेतन्यदेवने जिस-

प्रकार कहा है, उनकी उस वाणीसे उसीप्रकार व्याख्या करनेकी चेष्टा की है। मैंने स्वयं कुछ बोलनेका प्रयास नहीं किया है। उन्होंने मुझसे जो कुछ कहनवाया है, उसका मैंने उच्चारण मात्र किया है। आशा करता हूँ कि उनकी कृपा होने पर आप लोगोंके निकट उनकी अन्यान्य वाणियाँ भी प्रकाशित होंगी। आप लोगोंके निकट दिन-रात उनकी वाणी अविश्वान्तरूपसे कीर्तन करनेके लिये उनकेद्वारा मेरे हृदयमें एक अदम्य पिपासा संजीवित रखने पर भी श्रोतु-मण्डलीकी योग्यता एक ही वारमें अनेक बातें सुननेका धैर्य नहीं रख सकती, ऐसी आशंका होती है। उपसंहारमें दक्षिण प्रदेशके श्रीरमकेद्वारके निवासी श्रीचैतन्यदेवके नित्यकिंकर त्रिदण्डकुल चूडामणि श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतीपादकी भाषणमें मैं कह रहा हूँ—

दन्ते निधाय तृणकं पद्मोनिष्ठय

कृत्वा च काकुशतं एतदहं ब्रीमि ।
हे शापवः सकलमेव दिव्याय दूरात्

श्रीचैतन्यदेवणो कुरुतानुरागम् !!

श्रीचैतन्यदेवकी प्रचार-प्रणाली इस प्रकार है। प्रचारक कीर्तनकारी हैं, श्रीचैतन्यदेवकी वाणीके बाहक हैं। उनके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, नाकरी नहीं है या ठेका नहीं है। वे श्रीचैतन्यदेवकी वाणीके peon (वहनकर्ता) मात्र हैं। वे अमानी हैं, अकपट तथा तृणसे

भी सुनीच हैं। अतएव वे तृणको पददलित करनेके बदलेमें दाँतोंमें धारण कर श्रोतु-मण्डलीके पददेशमें पतित होकर हाथ जोड़कर उनसे कह रहे हैं कि वे सभी ही 'साधु' हैं। 'साधु' न होने पर इतनी महान् वाणी सुनने की योग्यता उन्हें किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? जब वे लोग 'साधु' हैं तब समस्त संसारके विषय या इतर विषयरूप समस्त मनोधर्मका परित्यागकर श्रीचैतन्यचन्द्रके चरणोंमें अनुराग युक्त होनेपर ही उनका साधुत्व स्थिरता प्राप्त करेगा। श्रीचैतन्यदेवकी वाणी हाथीके स्नानतुल्य साधुत्वकी बात नहीं बतलाती। श्रीचैतन्यदेवकी वाणी-शब्द और अनुकीर्तन-द्वारा नित्य साधुताकी चरमसीमा प्राप्त होती है। आप लोग दूसरे दूसरे समस्त साधुत्वकी सज्जा परित्याग कर अनुरक्त चित्त होकर एकमात्र श्रीचैतन्यदेवकी वाणी शब्द करें—यही मेरी प्रार्थना है। श्रीचैतन्यदेवकी वाणी मेरी जिह्वामें किस भाषामें प्रकाशित होती है, कह नहीं सकता। वह भाषा आप लोगोंके लिये बोधगम्य है या नहीं है, वह भी कह नहीं सकता। तब श्रीचैतन्यदेव जिस भाषामें कहलवानेके लिये ज्वालामुखी पर्वतकी तरह हृदयमें अनुक्षण एक महान् ब्रेरणा प्रदान करें, उसी भाषामें ही मैं आप लोगोंके निकट बोलनेका प्रयास करूँगा।

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(योषित्संग)

१. 'योषित्संग' किसे कहते हैं ?

"खियोंमें पुरुषोंके प्रति एवं पुरुषोंमें खियों-के प्रति जो आसक्ति है, उसका नाम ही 'योषित्संग' है। उसी आसक्तिको त्यागकर गृहस्थ व्यक्ति शुद्ध कृष्णनामकी आलोचना करने पर परम पुरुषार्थ प्राप्त कर सकते हैं।"

—जै० ध० २५वाँ अ०

२. योषित्संग क्या भक्तिविरोधी है ?

"जहाँ विवाहादि सम्बन्ध नहीं हुआ हो, वहाँ दुष्टबुद्धिके साथ किसी खीके प्रति संमादणादि समस्त ही योषित्संग है, वह पापमय और भक्तिविरोधी है।"

—'जनसंग', स० तो० १०११

३. शुद्धभक्ति-लाभेच्छुक व्यक्तिके लिये क्या-क्या वर्जनीय है ?

"जो व्यक्ति शुद्धभक्ति पानेकी आशा करते हैं, उनके लिये अभक्तसंग एवं योषित्संग —ये दोनों ही पूर्णरूपसे वर्जनीय हैं।"

—'संगत्याग' स० तो० ११११

४. विवाह-विधिका क्या उद्देश्य है ? कौन व्यक्ति पशुवत्-क्रियामें प्रवृत्त है ? अप्राकृत-रतियुक्त व्यक्तियोंकी चित्तवृत्ति कैसी होती है ?

"रक्तमांस-गठित शरीरमें जो शबस्त्यत है, उनके लिये खीसंग एक प्रकारसे निसगं जनित (परिवर्तित स्वभावजनित) धर्म हो गया है। इस निसगं (परिवर्तित स्वभाव) का

संकोच करनेके लिये ही विवाह करनेका विधान है। विवाह-विधिसे जो लोग मुक्त होनेकी इच्छा करते हैं, वे ही प्रायः पशुवत्-क्रियामें प्रवृत्त हैं। किन्तु जो व्यक्ति सत्संग-द्वारा भजन-बल प्राप्तकर नैसर्गिक विधिका अतिक्रमण कर अप्राकृत विषयमें रति प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिये खी-पुरुष-संग नितांत तुच्छ है।"

—'धैर्य', स० तो० ११५

५. कौन व्यक्ति धार्मिक-परिचयमें स्त्री-संगी है ?

"खीसंगमें जिनकी प्रीति है, वे ही स्त्री-संगी हैं। कनक-कामिनी-मुग्ध संसारी जीव तथा ललना-लोलुप सहजिया, बाउल, साँई आदि छलधर्मी व्यक्ति एवं वामाचारी तांत्रिक व्यक्ति—ये सभी ही खीसंगीके उदाहरण-स्थल हैं। मूल बात यही है कि जो सभी पुरुष खियोंसे प्रीति करते हैं एवं जो सभी स्त्रियों पुरुषोंसे प्रीति करती हैं, वे ही खीसंगी कहलाने योग्य हैं। वैष्णव लोग यत्नपूर्वक ऐसे स्त्रीसंगीका संग परित्याग करेंगे—यही श्रीमन्महाप्रभुकी आज्ञा है।"

—'असत्संग', स० तो० ११६

६. गृहस्थ वैष्णव क्या स्त्रैण हैं या योषित्संगी हैं ?

"मृही हों अथवा गृहत्यागी ही हों, वैष्णव चित्सुखके अभिलाषी होते हैं। गृहस्थ वैष्णव

लोग सर्वदा ही चित्तमुखकी ओर ध्यान रखते हुए अपनी खीके साथ मिलकर सभी कार्य करते हैं। सभी कार्य करनेपर भी वे स्त्रैण नहीं हैं। इस प्रकारके जीवनमें योषित्संग नहीं हो सकता। अबैध खी-सम्भाषण एवं वैध-खीसंगमें अपारमार्थिक स्त्रैणभावका वे सम्पूर्ण रूपसे परित्याग करते हैं।"

—‘संगत्याग’, स० तो० ११११

७. स्त्रैण होना क्या अच्छा है ?

“किसी भी व्यक्तिको स्त्रैण नहीं होना चाहिये, क्योंकि स्त्रैण होनेपर सर्वनाश होता है।” —च० शि० २५

८. गृहस्थ व्यक्तिके लिये पत्नीका संग क्या भजनका अंग है ?

“गृहस्थ व्यक्तिके लिये विवाहित खीसंग भजनका कोई अंग नहीं है। अतएव केवल सांसारिक जीवन-निर्वाहके लिये उसे निष्पाप माना जाता है।”

—‘सहजिया यतका हेयत्व’, स० तो० ४१६

९. खीभक्तोंके लिये दुःसंग किस प्रकार वर्जनीय है ?

खीभक्तोंके लिये बहिमुख पति-संग सूर्ण रूपसे त्याज्य है। बहिमुख व्यक्तिको पति स्वीकार करना ही कष्टप्रद है, क्योंकि खीसंग-द्वारा स्त्रीत्व लाभ होता है एवं वह धन-पुत्र-

गृह प्रदानकारी है। वही माया पुरुष ही सौडकी तरह आचरण करते हुए पतित्वका अभिमान कर रहा है।”

—‘भक्ति-प्रातिकूल्य-विचार’, श्री भा० म० १४।३६ बज्जानुवाद

१०. हरिभजनमें जड़भाव विन्दुमात्र भी प्रवेश करनेसे क्या कुफल होता है ?

“शुद्ध वैष्णव-विचारसे पुरुष-साधक खी-साधकोंसे भिन्न मण्डली बनाकर भजन करेंगे एवं खी-साधक किसी पुरुषको उनकी भजन-मण्डलीमें नहीं आने देंगी। भजन संपूर्ण रूपसे चिन्मय कार्य है। थोड़ासा भी जड़-भाव आनेसे ही वह नष्ट हो जाता है।”

—‘सहजिया-मतका हेयत्व’ स० तो० ५।६

११. किनका संग निरांत भक्तिवाधक है ?

“जो व्यक्ति योषित्संगी है, उनका संग सम्पूर्ण रूपसे भक्तिवाधक है।”

१२. इच्छापूर्वक खियोंके दर्शन करनेवाले वरागीके लिये क्या प्रायश्चित्त है ?

“वेशधारी वैष्णव यदि इच्छापूर्वक खियों-का दर्शन करें, तो भविष्यत् जन्ममें निर्दोष होनेके लिये त्रिवेणीमें डूबकर मर जाना ही उनके लिये एकमात्र प्रायश्चित्त है।”

—अ० प्र० भा० अन्त्य २।६५

— जगद्गुरु अ० विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुहदेवकी शुभाविर्भाव-तिथिपर तदीय
श्रीचरणकमलोंमें दीन-हीन सेवककी

क्षुद्र-पुष्पांजलि

साक्षाद्गुरिहवेन समस्त शास्त्रं-
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्गुरः ।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम् ॥

सबप्रथम गुरुपूजा करना हमारा कर्तव्य है। जिनको समस्त शास्त्र श्रीहरिके प्रकाश-विद्वान् कहकर उल्लेख करते हैं, साचु-सन्त लोग जिनको आश्रय-भगवान् कहते हैं, जो जगद्गुरु-लीलामें कृष्ण-प्रेष्ठ रूपसे लक्षित होते हैं, जिनकी कृपाके बलसे श्रेष्ठ श्रीनाम, श्रीमद् शचीपुत्र श्रीगौरहरि, श्रीस्वरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गास्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीरुद्राचार्य गोस्वामी, श्रीजीन गोस्वामी, श्रेष्ठपुरी मथुरा, श्रीधाम वृन्दावन, श्रीगोवर्धन, श्रीराधाकुण्ड, श्रीराधा-माधवको पानेकी लालसा आदिकी प्राप्ति होती है, जिनके हृदयमें निरंतर सपरिकर श्रीश्रीराधागोविन्दजीके नव-नव विचित्रतायुक्त नित्य लीला-विलास होते रहते हैं, जो कभी-कभी कृष्णको कन्धेपर, कभी-कभी मस्तकपर धारण करके स्वयं आनन्द लाभ करते हैं, एकमात्र जिनके ही प्रसादद्वारा भगवत्कृपा लाभ की जाती है एवं जिनके अप्रसन्न होनेसे शिष्यकी कोई भी गति नहीं है। तत्रिमित आत्मशोधनके लिये सेवा-प्रचेष्टाके प्रारम्भमें श्रीगुरुपादपद्मके महिमा-कीर्तनके व्रती होनेपर उनके अलीकिक सेवा-

वेशिष्टच और मेरी अयोग्यताकी निरन्तर स्मृति बनी रहती है। फिर भी मनुष्य जीवन सार्थक करनेके लिये श्रीगुरुपादपद्मके महिमा-कीर्तन-व्यतीत अन्य कोई गति नहीं है एवं कीर्तन-प्रयासी जनगणोंके प्रति श्रीगुरुपादपद्म की अहैतुकी करुणा-वृष्टि होती रहती है। आशावन्ध हृदयमें धारण करके साधन-पथपर अग्रसर होते हुए भावुक अनपढ़ व्यक्ति 'विष्णाय' बोलते हैं, पण्डित व्यक्ति 'विष्णवे' बोलते हैं। किन्तु भावग्राही जनादेन भाषाके प्रति लक्ष्य नहीं करते हैं, से दोनोंके हृदय-भाव ही ग्रहण करते हैं।

अनन्त आकाशमें पक्षी-समूह अपनी सामर्थ्यानुसार विचरण करते हैं। नितांत नगण्य एवं विचरण-असमर्थं पक्षी भी जिस प्रकार सामर्थ्यानुसार विचरण करनेमें कुछ संकोच नहीं करता, मैं भी उसी प्रकार असीम गुरु-पादपद्म-महिमा-गगनमें विन्दुमात्र भी गमन करनेमें असमर्थ होनेपर भी संकोच परित्याग करके परितृप्त होनेका प्रयास कर रहा हूँ। यदि मैं गुरुपादपद्मके महिमा-सिन्धुका एक विन्दुमात्र भी ग्रहण करके अपने जीवनको

घन्यातिधन्य कर विश्ववासियोंको उसका वितरण करता, तो मेरा जीवन सार्थक बून जाता। यदि कोई व्यक्ति कहे कि तुम्हारी गुरुसेवा-चेष्टामें मूँहता प्रकाशित होती है, तुम्हारे गुरुपादपद्मकी महिमा नष्ट हो चुकी है, इसका उत्तर यही है कि जगतमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो आप्राण चेष्टा करके भी मेरे श्रीगुरुपादपद्मकी महिमाको नष्ट करनेमें समर्थ हो सके, क्योंकि श्रीगुरुपादपद्म दूसरोंके द्वारा प्रकाशकी अपेक्षा न रखकर भगवानकी तरह स्वप्रकाश-तत्त्व हैं।

मेरी सेवामें अनेक प्रकारकी दोषवृटि रहनेके कारण गुरुजीके सन्मुख होनेमें असमर्थ होकर गुरुप्रेष्ठ पार्षदगणोंसे प्रार्थना करता हूँ।

कि वे कृपापूर्वक मेरे भूल-दोष आदिका संशोधन कर मुझे गुरुसेवाके योग्य बनायें तथा गुरुदेवसे मेरे लिये आवेदन करें। श्रीगुरुजीके इस भौम जगतमें प्रकट-कालमें उनकी अहैतुकी कहणाको कई बार अवगत होनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, किन्तु मैं उसका समुचित लाभ न उठा सका।

पतित-पावन नित्यानन्द-अभिन्न-विग्रह श्रीगुरुदेव मेरे प्रति कृपा करके गृहान्ध कृपसे मेरा उद्धार कर भक्तिरस पान करानेमें कोई बंचना नहीं करें—यही अभ्य-अशोक-अमृतके आधार रूप उनके मुशीतल श्रीचरणकमलोंमें बारम्बार मेरी सकातर प्रार्थना है।

श्रीगुरुकृपालेश-प्रार्थी
दासाधम मुरलीमोहन

—○—

भजनका शत्रु कौन है ?

उपरात्क विषयका विचार करनेपर मैं यह देख पाता हूँ कि मेरी देह और मन ही मेरे भजनके परम शत्रु हैं। भजनमें अग्रसर होनेकी प्रथम अवस्थासे ही देह मुझको वाधा देती है और मन उसका इधन जुटाता रहता है।

शास्त्र और साधुसज्जन लोग कहा करते हैं कि निष्ठिक्तन महाजनोंके चरणोंमें चिरकाल के लिये विक्रीत नहीं होनेपर भजन आरम्भ ही नहीं होता। किन्तु इस समय मेरा मन कहता है कि साधुके चरणोंमें विक्रीत होनेपर

तुम्हारा इतना प्रिय योगित्संग या इन्द्रिय-तर्पण किस प्रकार चलेगा ? वैष्णवचरणोंमें सब कुछ समर्पण करनेपर नरक-यन्त्रणाकी मूल कारणरूपा तुम्हारी स्वतन्त्रता कहाँ रहेगी ?

मनका परामर्श सुनकर मैं आनुगत्य धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म ग्रहण करनेके बदले कर्मी होना ही अच्छा समझता हूँ। देह और मनका परामर्श ग्रहण कर देह और मनके परामर्श ग्रहणकारी किसी दूसरे व्यक्तिके पास जाकर उनका उपदेश चाहता हूँ। वे मुझको कभी

“शरीरमाद् खलु धर्मसाधनम्” मंत्रमें दीक्षित करते हैं, कभी भगवद्-गम्बन्धकी आड़ लेकर “मकड़ी मारनेसे द्राहणको कुछ भी दोष नहीं लगता”—ऐसा स्थूल एवं कर्मजड़-स्मार्त-विचार मुझे प्रदान करते हैं, कभी मुझको और भी उदारताका प्रकाश दिखलानेके लिये प्रतिष्ठाशासे युक्त देश और समाज-सेवाकी बात सुनाकर उसमें मुझे प्रवृत्त कराते हैं, कभी शठतासे युक्त नशाखोर एवं लम्पट व्यक्तियोंकी कपटताको ‘वैष्णवता’ कहकर प्रचार करनेके लिये मुझे उपदेश देते हैं, कभी बाहरी रूपसे परोपकार-व्रत या परोपकार-व्रतका भान दिखाकर मेरी चेतन सत्ताको विरजा-समुद्रके अथाह जलमें डुबोकर मेरे आत्मविनाशके लिये परामर्श देते हैं अथवा कभी मुझको पवंतादिकी तरह अचेतन अर्थात् निर्विशेष अवस्थाका लोभ दिखाते हैं।

मैं देह और मनके द्वारा चालित हूँ। इन्द्रिय-तर्पणपर वस्तु प्राप्त करनेमें ही मुझे लोभ है। मैं देह और मनकी तृप्तिको ही हरि-सेवा कहकर प्रचार करना चाहता हूँ, किन्तु कृष्णसेवामें देह और मनकी तृप्तिकी बात नहीं है; केवल कृष्णोन्द्रिय तर्पण ही है—समझ कर कपट-अन्धु-जल दिखाकर लोगोंको भुलाते हुए अहैतुकी सेवाधर्मसे बंचित रह जाता हूँ।

कभी पुनः कपट-वैष्णव-वेशसे जिन-जिन वस्तुओंसे मेरा इन्द्रिय-तर्पण हो सकता है, उन उन वस्तुओंको स्वीकार कर वैष्णवोंसे विद्वेष करनेके लिये अपनेको वैष्णव कहा करता हूँ। किन्तु वास्तवमें मैं वैष्णवधर्म या आनुगत्य धर्मसे बहुत दूर हूँ।

कपट-वैष्णव सजकर एवं दीक्षितका अभिनय-करते हुए मैं अपने इन्द्रिय-तर्पणमें

वस्त होता हूँ, श्रौतपथको छोड़कर मैं मनो-धर्मके भयंकर प्रवाहकी ओर दौड़ पड़ता हूँ।

मैं कलिके पांच वासस्थान अर्थात् द्यूत-कोड़ा, मद्यपान, खोसंग, पशुवध एवं स्वर्ण आदि धनका लोभ—इनको ही अपने भजनका सहायक समझता हूँ। जो व्यक्ति इन पांच कलिके वास-स्थानोंमें आसत्त है, उनको ही मैं वैष्णव कहनेकी धृष्टता करता हूँ। मैं खूब भजनानन्दी हूँ, सर्वदा मेरा चित्त भक्तिराज्यके इन्हें उच्च-प्रदेशमें विचरण करता है कि समय-समय पर मुझको पुनः देह-स्मृति लानेके लिये, अन्तर्दंशासे बाह्यदशामें आनेके लिये तावा, पाश आदिकी आवश्यकता होती है; पान, तम्बाकू आदिको मैं अपने भजनके उत्तोजक या उत्साहवर्धनकारी कहकर उन्हें ग्रहण किया करता हूँ। कभी भावके घरमें चोरी कर एवं मूर्ख लोगोंको चक्करमें डालकर कहता हूँ कि तम्बाकू और चाय नहीं खानेसे मेरे पेटमें वायु उत्पन्न हो जाती है एवं मलेरिया रोगके आक्रमणका भय रहता है, इसलिये भजनमें बहुत बाधा पहुँचती है। मैं औषधिके रूपमें ही तम्बाकू, चाय इत्यादि ग्रहण करता हूँ, भोग-विलासके लिये इन्हें ग्रहण नहीं करता। कभी रागानुग-भजनकी छलना कर शास्त्रोंके आदेश तो विधि मार्गके व्यक्तियोंके लिये ही है—ऐसा दूसरोंसे कहकर स्वयं उनका पालन न कर लोगोंकी बचना किया करता हूँ। जब वैष्णव लोग निर्बोध हैं, तब मैं प्रेमकी छलनासे कपटतापूर्वक रोना दिखलाकर उन्हें ठग सकता हूँ, उन्हें विपथगामी करनेमें समर्थ हो सकता हूँ! धनके लोभसे वैष्णवोंसे विद्वेष करनेके लिये भक्त बनकर तरह-तरहसे उपटता करता हूँ। किसी समय ऐसा विचार

करता हूँ कि वैष्णवोंके संगमें रहनेसे वे मुझ-को इन सभी कलिके बास-स्थानोंसे उद्धार करेगे, अतएव किसी भी तरह उनके संग नहीं रहूँगा । पहले ही कह चुका हूँ कि जड़भोगोंमें आसक्त मन ही मेरा गुरु है एवं मैं मनका ही परामर्श ग्रहण करता हूँ । मन तब कहने लगता है—‘उत्तम प्रस्ताव रखा है । तुम घर जाकर युक्त-वैराग्यका अवलम्बन करते हुए अन्तरमें निष्ठा रखते हुए बाहरमें लौकिक व्यवहार करो, मर्कट वैराग्य अच्छा नहीं है; योगित्संग या स्त्रैणभाव और अधिक बड़ा देनेसे ही कृष्ण-भजन हो जायगा एवं तुम लोगोंकी दृष्टिमें वैष्णव-लेखकके रूपमें प्रतिष्ठा पाओगे ।

मैं धीलदाम गोस्वामीके प्रति श्रीमन्महाप्रभु द्वारा कहे गये उपदेशका विपरीत अर्थ कर इन्द्रिय-तर्पणको ही युक्त वैराग्य समझता हूँ, गृहव्रत-धर्मको ही गृहस्थ-धर्म समझता हूँ । मायाके संसारको ही कृष्णका संसार समझता हूँ, अपनी इन्द्रिय-सेवाको ही ! ‘कृष्णसेवा’ समझता हूँ एवं ऐसा लिखकर प्रचार करनेके उद्देश्यसे वैष्णव-लेखक हो पड़ता हूँ ।

“शैतान भी शास्त्र-वाक्योंका उद्धार कर अपना मत समर्थन कर सकता है”—इस लोकोक्तिके अनुसार मैं नाना प्रकारके तामसिक एवं राजसिक शास्त्रोंसे अपने इन्द्रिय-तर्पणके अनुकूल वचनोंका प्रमाण देकर इन्द्रिय-सेवाको सार्थक करनेका सुयोग हूँड़ लेता हूँ ।

मनोधर्मके केरमें पड़कर मैं कभी प्राकृत सहजिया हो पड़ता हूँ । मुझमें हजारों छिद्र और दोष हैं, पीछे वे प्रकाशित न हो जाय, इस भयसे जगतमें धर्मके नामसे प्रचलित जितने प्रकारके भी व्यभिचार एवं कपटताएँ हैं,

उन्हें दूसरोंको दिखलानेका साहस नहीं करता । “तृणादपि” इलोकका विकृत अर्थ कर उसकी आड़में अपनेको छिपाकर रखनेकी चेष्टा करता है । अवैष्णवता या कपटताको दिखला देना ही ‘परनिन्दा’ या ‘परचर्चा’ है—ऐसा कहता है । उस समय मैं खूब ‘तृणादपि सुनी-चता’ दिखलाता हूँ, किन्तु शुद्ध वैष्णवोंकी निदा करनेमें कभी पीछे नहीं हटता । मैं अपनी भोगोन्मुखी इन्द्रियोंद्वारा शुद्ध वैष्णवोंकी अप्राकृत और अचिन्त्य चेष्टामें कहाँ कौनसा छिद्र वर्तमान है, उसे हूँढ़नेके लिये सदा उत्कण्ठित रहता हूँ एवं प्राकृत अक्षज-शान द्वारा उनकी अचिन्त्य चेष्टाकी समालोचना करनेमें शतजिह्वा हो पड़ता हूँ । तब ‘तृणादपि’ इलोकका मुझे ध्यान नहीं रहता । मेरा दुर्भाग्य है कि कार्यके समय ‘तृणादपि’ इलोक मेरे ध्यानमें नहीं आता एवं अकार्यके समय मेरा मनोधर्म ‘तृणादपि’ इलोककी छाया या विकृत प्रतिफलन ग्रहण कर मुझको वैष्णवापराधमें ढुबो देता है ।

अतएव मैं कह रहा था कि यह दुष्ट मन ही मेरा गुरु है । यदि मैं अपने मनोधर्मको अपना गुरु न कर निर्जिकचन महाभागवत शुद्ध वैष्णवोंके चरणकमलोंमें सदा के लिये बिकजाता, उनको ही यदि सब समय अपना एकमात्र कर्णधार समझता, तो मेरी देहरूपी नौका मुखको भगवत्कृपानुकूल बायुसे शीघ्र ही बहाकर बैकुण्ठ राज्यमें ले जाती ।

मेरी इस मनोवेदनाको कोई सुनेंगे या नहीं, मैं नहीं जानता; मेरी वेदनामें कोई समवेदना प्रकाश करेंगे या नहीं—यह मैं नहीं जानता; मेरे दुःखके गीत किसीके प्राणोंमें झँड़त होंगे या नहीं, यह भी नहीं जानता;

किन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि मैं “कोई जितना भी कहें, मैं किसीकी सुन नहीं सकता” —इस उक्तिका अनुसरणकारी व्यक्ति हैं; मेरे समान हरिकथा-विमुख, वास्तविक कल्याणमें अनिच्छुक और दूसरा कोई व्यक्ति नहीं है। इस प्रकारके मनोधर्मके चंगुलमें बढ़ मेरी कौन रक्षा करेगा ? सोचता हूँ कि—

“एमन निघृण भोरे केवा कृपा करे ।
एक नित्यानन्द विनु जगत् भितरे ।”
पुनः कहता हूँ कि ये नित्यानन्द तो मेरे

मनकलिप्त नित्यानन्द नहीं हैं, मनोधर्मके नित्यानन्द नहीं हैं, वह माया है। ये नित्यानन्द तो अधोक्षज नित्यानन्दस्वरूप श्रीगुरुदेव हैं। ये नित्यानन्द मेरे चित्तके समस्त कल्मष-विद्वांसकारी हैं, मेरे मनोधर्मकी असंख्य दुष्ट प्रन्थियोंके छेदनकारी हैं, मेरी विशिष्ट आसक्ति के निमूँलकारी हैं। मैं निष्कपट होकर उन नित्यानन्दके श्रीपादपद्मोंमें हमेशाके लिये विकीर्त हो सकूँ—यही मेरी सकातर प्रार्थना है।

—(सामाहिक गीड़ीयसे अनुदित)
अनुवादक—श्रीश्यामकिशोरदास बहुचारी

॥३५॥

साधुसंग

अधिकांश व्यक्ति ही ‘साधुसंग’ शब्दसे परिचित हैं। किन्तु इने-गिने व्यक्ति ही इसके यथार्थ तात्पर्य एवं महत्वसे परिचय रखते हैं। अब हमें सर्वप्रथम यह विज्ञार करना होगा कि ‘साधुसंग’ शब्दका पारिभाषिक तात्पर्य क्या है ?

‘साधु’ कहनेसे सत्स्वभाव-सम्पन्न व्यक्ति को या सद्वस्तुकी साधना करने वाले व्यक्तियोंको समझना चाहिये। भगवान ही एकमात्र सद् वस्तु हैं। ‘सत्’ कहनेसे नित्य सत्ताका वोश होता है। सत्ता कहनेसे नित्य नाम, रूप, क्रिया, गुण आदिका वोश होता

है। भगवानमें ये सभी पूर्णतम मात्रामें वर्तमान हैं। अतएव भगवानके नाम, रूप, गुण लीला आदिके श्रवण-कीर्तन-स्मरणकारी एवं उनके नित्य सेवनकारी व्यक्ति ही यथार्थ-साधु हैं। ऐसे साधुलोग अपनी प्रेम-भक्तिसे पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवानको वशीभूत कर लेते हैं।

‘संग’ कहनेसे सम्यक् रूपसे गमन अर्थात् सम्पूर्ण आनुगत्य है। अतएव ‘साधुसंग’ कहनेसे तोसे भगवानकी ऐकान्तिकी भक्ति करनेवाले धैर्यवजनोंका सम्पूर्ण आनुगत्य ग्रहण करते हैं। उनके पादपद्मोंमें आत्मसमर्पण पूर्वक उनके

आदेशानुसार हरिसेवा एवं हरिभजन करते हुए उनकी शिक्षाओं एवं आदर्शं चरित्रको अपने जीवनमें अपनाना ही है। वैष्णवोंने किस प्रकारके आचरणको ग्रहण कर महानता प्राप्त की है एवं किस प्रकार उन लोगोंने कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति की है, यह भजनपिपासु व्यक्तियों-के लिये जानना अत्यावश्यक है।

साधु या वैष्णवका साधारण लक्षण श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार वर्णित है—

असत्संग-त्वाग-एइ वैष्णव आचार।

स्त्रीसंगी—एक असाधु, कृष्णाभक्त आर॥

अर्थात् जो व्यक्ति असत्संगसे सर्वथा दूर है एवं भगवान् कृष्णके भक्त हैं, वे ही साधु या वैष्णव हैं। असत्संगका अर्थ असत् व्यक्तिका संग है, असत् व्यक्ति एक तो स्त्रीसंगी हैं और दूसरे जो भगवान् कृष्णकी भक्ति नहीं करते। इन दो प्रकारके व्यक्तियोंका संग त्वाग करने-बाले व्यक्तियोंको ही साधारणतः साधु या वैष्णव कहा जाता है। ऐसे व्यक्तियोंके संग अर्थात् उनसे आन्तरिक प्रीतियुक्त व्यवहार करना एवं उनके द्वारा आचरित एवं प्रचारित शुद्ध भक्ति धर्मका पालन करना ही यथार्थ साधुसंग है। आन्तरिक प्रीतिका लक्षण श्रीरूप गोस्वामीपादने निम्न श्लोक द्वारा व्यक्त किया है—

द-१ति प्रतिगृह्णाति गुह्यम् त्याति पृच्छति ।
भुड् बते भोजयते चंव षड् विध प्रीति लक्षणम्॥

अर्थात् वैष्णवोंको अपनी प्रियवस्तु प्रदान करना एवं यदि वे हमको प्रीतिपूर्वक कृद्ध प्रदान करें तो उसको ग्रहण करना, अपनी गुप्त वातोंको उनके सन्मुख व्यक्त करना एवं सद्धर्मकी गोपनीय वात उनसे पूछना, अपनी प्रिय भोज्य-वस्तु उन खिलाना एवं उनके द्वारा प्रदत्त भोज्य-

वस्तुका सेवन करना—यह लक्षण है। प्रकारके प्रीति-लक्षण हैं।

श्रीभगवत्पाठद-प्रबर श्रीलरूप गोस्वामी-जीने भक्तिके ६४ प्रकारके अङ्गोंमें से पाँच अङ्गोंको सर्वथेषु बतलाया है। श्रीचैतन्य-चरितामृतके अनुसार वे इस प्रकार हैं—

साधुसंग, नामकीर्तन, भागवतश्रवण।

मधुरावास, श्रीमूर्तिर अद्वाय सेवन ॥

इन पाँच अङ्गोंमें साधुसंग ही अन्य चार अङ्गोंका-मूल स्वरूप है अर्थात् यथार्थ रूपसे साधुसंग करनेसे अन्य चार अङ्गोंका स्वयं ही पालन हो जाता है। अतः भक्ति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय ही 'साधुसंग' है। यह ही भक्ति राज्यका आधार-स्वरूप है। साधुसंग विना भक्ति प्राप्त होना असम्भव है। जिन व्यक्तियोंने पूर्व जन्मोंमें साधुसंग किया है, वे ही इस जन्म में भगवानकी पराभक्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् उन्हींकी भगवान् कृष्णकी भक्ति करनेमें, वैष्णवोंकी सेवा करनेमें एवं अप्राकृत श्रीकृष्ण-नाम ग्रहण करनेमें रुचि होती है। साधुसंग करनेसे ही व्यक्तिको अभीष्ट-सिद्धि कृष्णप्रेम एवं कृष्णसेवा प्राप्त हो जाती है। साधुसंगसे ही जीवोंके समस्त प्रकारके अमंगल दूर होकर परम मंगलकी प्राप्ति होती है। अतएव सर्व-मंगलप्रद साधुसंग करना जीवमात्रका परम कर्त्तव्य है।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीजीने श्रीचैतन्यचरितामृतमें वैष्णव या साधुके छव्वीस लक्षण बतलाये हैं—

कृपालु, अकृतद्वौह, सत्यसार, सम ।

निर्दोष, वदन्य, मृदु, शुचि अकिञ्चन ॥

सर्वोपकारक, शांत, कृष्णकशरण ।

अकाम, निरोह स्विर, विजित-षडगण ॥

**मितभुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी ।
गंभीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी ॥**

शुद्ध वैष्णव उपर्युक्त छब्बीस गुणोंसे विभूषित हैं। इनमें 'कृष्णकशरण' वैष्णवका मुख्यतम या स्वरूपलक्षण है एवं अन्य पच्चीस लक्षण इसी मुख्यतम लक्षणके अनुगत या तटस्थलक्षण हैं। 'कृष्णकशरण' अर्थात् भगवानके एकान्त शरणागत होनेसे अन्य लक्षणोंका स्वयं ही उसके अन्दर समावेश हो जाता है। जो व्यक्ति जितने परिमाणमें भगवानके एकान्त शरणागत हैं, वे उतने ही उच्च वैष्णव हैं एवं अन्य लक्षण भी उतने ही परिमाणमें उनमें प्रकाशित होने लगते हैं। सौभाग्यवश ऐसे साधु या वैष्णवका संग प्राप्त होनेपर उनके एकान्त अनुगत होकर उनकी सेवा करते हुए उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये सर्वदा यत्नवान होना चाहिये। उन्हींकी अहैतुकी कृपासे बद्ध जीवोंके संसार बन्धनका छेदन होता है। जो व्यक्ति ऐसे साधुओंका संग नहीं करते, वे नाना योनियोंमें भ्रमण करते हुए चिरकालके लिये जन्ममरणका दुःख भोग करते ही रह जाते हैं।

बहुत जन्मोंकी मुकुतिके बलसे सौभाग्यवश साधुसंग प्राप्त होता है—

**भक्तिस्त भगवद्भूत्तसगेन परिजायते ।
सत्सगः प्राप्यते पुंभि मुकुते: पूर्वसच्चितेः ।**

(वृहन्नारदीय पुराण ४।३३)

अर्थात् भगवद्भूतोंके संगके प्रभावसे भक्ति-वृत्तिका उदय होता है। जीव अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंसे संचित मुकुतिके फलसे ही विशुद्ध भक्तोंका संग पाते हैं। अतएव ऐसा साधुसंग प्राप्त कर हमें वैसे ही कार्य करना चाहिये जिनको करनेसे हरिन्दुर-वैष्णव हमपर

प्रसन्न हों। ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये जिनसे उनकी अप्रसन्नता हो। अपनी स्वतन्त्रता एवं इच्छाका पूर्णरूपसे परित्याग कर वैष्णवोंकी इच्छानुसार सेवा करना परमाश्वयक है, अन्यथा आनुगत्य नहीं रहता। जब तक हम पूर्णरूपसे साधु-वैष्णवके चरणोंमें आत्मसमर्पण नहीं करेगे, तब तक हम भगवानकी पूर्ण कृपाके अधिकारी नहीं बन पायेगे। असंख्य कठिनाईयोंके उपस्थित होने पर भी कदापि साधुसंग नहीं छोड़ना चाहिये। साधुओंको ही अपना परम बन्धु, परम आत्मीय एवं स्वजन जानना चाहिये।

साधुसंग प्राप्त होनेपर अल्प प्रयाससे ही भक्ति राज्यमें उप्रत हुआ जा सकता है। स्वयं हजार चेष्टा करने पर भी कोई भी व्यक्ति यथार्थ रूपमें भक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। किन्तु साधु-वैष्णवोंकी कृपासे वह सब कुछ प्राप्त कर भक्तिराज्यसे प्रविष्ट हो जाता है। उसकी संसार बासना अनायास ही नष्ट हो जाती है, उसके लिये कोई पृथक् चेष्टा नहीं करनी पड़ती।

दीर्घकाल तक साधुसंग करते-करते हमारे समस्त संशय दूर हो जाते हैं एवं हम पूर्ण आत्मसुख प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। भारत-भूमिमें मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है उसमें भी भगवद्प्रिय व्यक्तियोंका संग और भी दुर्लभ है। अतएव हमें साधुसंगका पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। क्योंकि भगवानकी अहैतुकी कृपासे ही ऐसा दुर्लभ संग प्राप्त होता है। श्रीरामचरित-मानसमें हनुमान-विभीषण सम्बादमें यह प्रसंग इस प्रकार वर्णित है—

अब मोहि भा भरोस हनुमता ।
बिनु हरि कृपा मिलहि नहि सता ॥

सत्संगकी महिमा बड़ी अकथनीय है। सत्संग प्राप्त कर एक साधारण व्यक्ति भी महान बन जाता है। अत्यन्त दुर्जन व्यक्ति भी क्रमशः संतोंकी कृपासे सज्जन बन जाते हैं। साधुसंग द्वारा जीवोंकी समस्त कुप्रवृत्तियाँ अनायास ही दूर हो जाती हैं। क्योंकि साधुसंगके प्रभावसे ही अपने स्वरूपका ज्ञान होता है। स्वरूप ज्ञान होने पर जीव अपनी यथार्थ स्थितिरूप कृष्ण-दास्यको प्राप्तकर पूर्णानन्दमें निमज्जित हो जाता है।

जो व्यक्ति जैसा संग प्राप्त करता है उसी के अनुरूप उसका स्वभाव बन जाता है। उदाहरणके लिये स्वाति नक्षत्रका जल, सीप, केलेके पेड़ एवं सौंप पर पड़नेसे क्रमशः मोती, कपूर एवं जहरके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। सत्संगकी तुलनामें अन्य सभी साधन एवं उनके कल अत्यन्त तुच्छ एवं हेय हैं। अतएव श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णित है—

तुल्याम लवेनापि न स्वर्ण नापुनभंवम् ।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(श्रीमद्भागवत ११८।१३)

अर्थात् भगवत्संगी व्यक्तिके सहित क्षण मात्रके भी संगद्वारा जीवका जो असीम क याण होता है, उसके साथ जब स्वर्ण या मोक्षकी भी कुछ तुलना नहीं होती, तब मरणशील मानवके तुच्छ राज्यादि सुखोंकी तो बात ही क्या?

धलकालके लिये साधुसंग होनेपर भी जीवोंकी सर्वार्थसद्वि हो जाती है—

‘साधुसंग’, ‘साधुसंग’—सर्वशास्त्रे कथ ।
लवमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय ।

(श्रीच० च० मध्य २२।५४)

साधुसंग द्वारा मनुष्योंकी क्रमशः आत्म-वृत्ति जाग्रत होने लगती है। वे वैष्णवोंके आनुगत्यमें सेवा करते-करते अपनेको कृष्ण-दास अनुभव करने लगते हैं। धीरे-धीरे वैष्णवोंकी कृपासे उनकी सेवा-वृत्ति प्रबल हो जाती है एवं अनर्थ निवृत्ति होनेपर वे स्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अन्तमें स्थूल शरीरके पतन हो जानेपर भगवानकी साक्षात् सेवामें नियुक्त हो जाते हैं। अतः साधुसंगके अतिरिक्त इस संसारमें कोई भी दुर्लभ एवं कल्याणकारी वस्तु नहीं है। अतएव जीवमात्रका परम कर्तव्य है कि वे यथार्थ साधुसंग प्राप्त करनेके लिये सदा यत्नवान् रहें एवं जिस त्रिसी भी आश्रम एवं वर्णमें क्यों न स्थित हों, साधु-वैष्णवोंकी सेवा करते रहें।

कई व्यक्ति साधुसंग करनेका भान दिखाकर अपने आपको बंचित करते हैं। वे लोग साधुओंके पास जाकर अनावश्यक एवं भगवचन्चसि रहिन प्रसंगोंको छोड़ते हैं। इस कारण वे लोग यथार्थ साधुसंग पाकर भी उसका यथार्थ लाभ उठा नहीं पाते। कभी-कभी वे लोग ऐसी चर्चाओंद्वारा साधुओंके अप्रियभाजन बनकर उनकी कृपासे बंचित हो जाते हैं। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, वे लोग कृष्ण भक्ति प्राप्त करनेमें कदापि समर्थ नहीं होते, बल्कि चिरकालके लिये संसार चक्करमें भ्रमण करते रह जाते हैं। और कुछ व्यक्ति साधुओंके पास धन, जन, परिवार, जागतिक प्रतिष्ठा, अपने स्वार्थकी पूर्ति आदि कामनाओं को लेकर जाया करते हैं, किन्तु साधुओंकी यथार्थ कृपा ग्रहण करनेसे पराहृमुख रहते हैं। उन लोगोंकी उस-उस कामनाकी पूर्ति हो जानेपर साधुओंके पास जानेकी कोई

आवश्यकता नहीं समझते । यह उन लोगोंकी महान् दुष्कृतिका फल है, ऐसा जानना होगा । साधुओंके पास जाकर प्रीतियुक्त होकर उनके साथ भगवानकी कथाकी आलोचना करना ही यथार्थ साधुसंग है । उसीसे कृष्ण-भक्ति प्राप्त होती है । इसलिये प्रत्येक भजन-पिपासु व्यक्तिका कर्त्तव्य है कि वे कृष्ण-कथामें और विषय-कथामें वर्तमान पार्थक्यको जानकर साधुओंके साथ कृष्ण-कथाकी आलोचना करें ।

कुछ अर्वाचीन व्यक्तियोंकी धारणा है कि साधुसंगकी कोई आवश्यकता नहीं है । हम स्वयं शास्त्रोंका अध्ययन कर उसका मर्म जान लेंगे एवं साधन-भजन कर ईश्वरको प्राप्त कर लेंगे । इसमें साधुओंकी मध्यस्थताकी क्या आवश्यकता है? किन्तु ऐसी धारणा सम्पूर्ण विपरीत है । क्योंकि ऐसा होनेपर मंगलके बदलेमें चरम अमंगल ही होता है । स्वयं शास्त्र अध्ययन करने जाकर ऐसे व्यक्ति यथार्थ तत्त्वका अनुधावन नहीं कर पाते एवं वर्थका अनर्थ कर विपरीत पथके पथिक हो पड़ते हैं । समस्त शास्त्रोंमें ही साधुसंग करने-की विधिको अनिवार्य बतलाया गया है । जो लोग इस विधिका उल्लंघन करते हैं, वे जगतके लिये उत्पात-स्वरूप हो पड़ते हैं । अतएव ब्रह्मायामलमें कहा गया है—

**श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पंचरात्रविधि विना ।
ऐकान्तिको हरेर्भक्तिश्तपातायैव कल्पते ॥**

अर्थात् श्रुति, स्मृति, पुराणादि शास्त्र एवं पंचरात्र-वधिको छोड़कर ऐकान्तिकी हरि-भक्ति उत्पातका ही कारण बनती है ।

विना सत्संगके कृष्ण भक्ति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि कृष्ण भक्तिका जन्म मूल ही साधुसंग है । और यह भी भगवानकी

अहैतुकी कृपासे ही प्राप्त होता है । अतएव श्रीरामचरित-मानसमें गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

**बिनु सत्संग विवेक न होई ।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥**

बहुतसे व्यक्ति साधुसंगमें कुछ दिन रहकर निर्जन-भजनका प्रयास करते हैं । यह उनकी अदूरदृशिता एवं आत्मबंचना मात्र है । क्योंकि मायाबद्ध जीव सर्वदा अनर्थग्रस्त होते हैं । विना किसी गुद्ध अवलम्बन एवं भजनोन्मुखी संगके सर्वदा उनके पतनकी आशंका रहती है । वे भजनमें इतनी उन्नति नहीं कर पाते जितनी उन्हें आशा रहती है । विना साधु-संगके असत्संगमें पढ़ जानेकी सम्भावना है । वे अधिकांश व्यक्ति ही ऐसा निर्जनभजन करने जाकर मर्कंट-वैराग्य, कपटता, प्रतिक्षाशा, कनक-कामिनी, विषय-लोलुपता आदि महान् अनर्थोंके शिकार हो पड़ते हैं । ऐसा कर वे केवल अपना ही अहित नहीं करते, बल्कि अन्यान्य मूढ़ जीवोंका भी अहित कर बैठते हैं । साधुसंगमें रहनेपर जिस संगका बल प्राप्त होता है, उसे वे लोग खो देते हैं । साधुसंगमें रहनेपर किसी बातकी विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती क्योंकि साधुओंकी कृपासे भजन के लिये प्रयोजनीय सभी वस्तुएं अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं । अल्प परिश्रमसे ही अति शीघ्र ही भजनोन्नति हो जाती है । कलि-कालमें साधुसंगकी महिमा अपार है, क्योंकि इस युगमें अधिकांश जीव ही शम, दम, सहनशीलता, त्याग, वैराग्य, तपस्या, बाहरी और आन्तरिक पवित्रता, सत्यपरायणता आदि सद्गुणोंसे बजित हैं । उनकी आयु भी अति अल्प है एवं उनका चित्त सर्वदा पापोंसे

मलीन रहता है। अतएव केवल अपनी चेष्टासे वे किस प्रकार अपना उद्धार करनेमें समर्थ हो सकेंगे ?

यथार्थ निर्जनता साधुसंगमें ही वर्तमान है। यथार्थ निर्गुण संग साधुसंगमें ही पाया जा सकता है। अतएव शंकराचार्यने भी कहा है—‘सत्संगत्वे हि निःसंगत्वम्।’ साधु-संगको छोड़कर निर्जनताका प्रयास अमूल्य मणिको पाकर भी तुच्छ काँचके टुकड़ेको हूँडनेकी तरह निरर्थक एवं अल्पज्ञताका परिचायक ही है। साधुसंगमें रहनेपर किसी व्यक्ति की अनिच्छा होनेपर भी कभी न कभी साधु-संगका प्रभाव उस पर पड़ सकता है। साधुओं के हृदयमें भगवानका सर्वदा वास रहता है अतएव उनकी कृपा होनेपर भक्तिका अनायास ही हृदयमें प्रवेश हो जाता है एवं इह जगत तथा परजगतकी समस्त कामनाएँ अनायास ही पूर्ण होकर जीवोंके चरम लोभनीय और प्राप्य परम पुरुषार्थ रूप कृष्णप्रेमकी प्राप्ति होकर वे असीम आनन्द समुद्रमें सदाके लिये निमज्जित हो जाते हैं।

अतएव हे वृद्धिमान सज्जनो ! आप लोग अति दुर्लभ एवं क्षणभंगुर तथा परमार्थग्रद मनुष्य जीवन पाकर इसे व्यर्थ, अमंगलदायी

विषय-चेष्टाओंमें और अपने तुच्छ एवं हेय जागतिक स्वार्थोंमें न नियुक्त कर परम दुर्लभ साधुजन-संग कर अपना परम मंगल प्राप्त करनेका प्रयास करें। विषय-भोग तो प्रत्येक जन्ममें ही पाये जाते हैं। वे प्रत्येक जीवोंको अपने भाग्यानुसार मिलते ही रहते हैं। किन्तु अपना परम मंगल एकमात्र मनुष्य जीवनमें ही हो सकता है, जो एकमात्र साधुसंग द्वारा ही प्राप्य है। अतएव महाभागवतवर श्रीविद्वर्जीने भी कहा है—
वासुदेवस्य मे भक्ताः शान्तास्तदगतमानसाः ।
तेषां दासस्य दासोऽहं भवेयं जन्मजन्मनि ॥

दक्षिण भारतके प्रसिद्ध भक्तशिरोमणि सम्राट् श्रीकुलशेखर आलवार भी कहते हैं—
मज्जन्मनः फलमिदं मधुकंटम् ।
मत्प्रार्थनीय-मदनप्रह एष एव ।
त्वद्भूत्यभूत्य-परिचारक-भूत्यभूत्य-

भूत्यस्य भूत्य इति मा स्मर लोकनाथ ॥
अतएव हमारी सभी श्रद्धालु सज्जनोंसे प्रार्थना है कि वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक शुद्ध साधु-बैण्डवोंका पादाश्रय कर उनका प्रीतिपूर्वक संग करते हुए काय-मन-बचन-प्राणको भगवच्चरणोंमें नियुक्त कर अपने दुर्लभ मनुष्य जीवनको यथार्थ रूपमें सार्थक करें।

—श्रीइयामकिशोरदास ब्रह्मचारी



वर्तमान मानवका मतिभ्रम

एवं

उसका दूरीकरणोपाय

वर्तमान युगके कलिप्रभावित असांस्कृतिक भौतिक स्वरूपकी तथा उसमें जीवन धारणकर विकासोन्मुख आधुनिक मानव समाजकी दैनिक जीवन-चर्या एवं उनकी प्रचलित गति-विधियों, उनके स्वभावों, आचरणोंका जो भी प्राचीनताके उपासक, शास्त्रज्ञ, हृदयवान, विवेकशील, भारतीय संस्कृति-सम्पन्न वैष्णव, आचार्य एवं महापुरुष लोग निरीक्षण करते हैं, उनके मानसमें अत्यधिक आचर्य, दुःख, संवेदना, निराशाओंकी परम्पराएँ सहसा उठकर उनकी आत्माको व्यथित ही नहीं करतीं, इकझोर डालती हैं। भारतीय मानव समाजकी सर्वाधिक पतनोन्मुखी अवस्थाको देखकर वे सोचने लगते हैं कि तपःपूत महियों, महापुरुषों, आचार्यों, भक्तों, वैष्णवों-ने युगों-युगोंके संस्कार, आत्म-साधना, त्याग, तपस्या, वैराग्य, सत्यनिष्ठा, इन्द्रिय-निग्रह, नैतिकता, सदाचार आदिके द्वारा जिस भारतीय संस्कृतिकी नींब रक्खी थी, सनातन धर्मके मुरससे जिसे सीचकर सुटङ्क किया था, अपने अमूल्य जीवनका नियोग कर स्थिरता प्रदान कर भक्तिकी मुर-सरिता प्रवाहित की थी, उसे प्रचलित वैज्ञानिक भौतिक युगने अपने मोहक, भ्रामक, भयजनक, सर्वविनाश-

कारी आक्रमणों द्वारा कैसा जर्जरित कर दिया है ? इसने मानव समाजके हृदय-पटलसे आत्मतत्वके सर्वोदयी मङ्गलमय प्राचीन अंकुरोंको धूलिसात् कर उसके स्थान पर नवीनताके असांस्कृतिक विषवैज्ञ बो दिये हैं, जो विकसित होकर भारत, पुरातन संस्कृतिका नाश करनेमें अग्रसर हैं। मानव इतना भ्रमित, अनात्मवादी किसी युगमें नहीं हुआ था । प्राचीन युगके सभी वर्ग एवं श्रेणियोंके मानवोंमें धार्मिकता, प्राचीन संस्कृतिके अंकुर विद्यमान रहते थे । आज धर्म-तत्वोंकी अपने ही व्यक्तियोंद्वारा उपेक्षा एवं भारतीयताको प्रकट-अप्रकट रूपसे भस्मी-भूत करनेके जो प्रयत्न चल रहे हैं, वे अवर्णनीय हैं । इस युगका मानव शनैः-शनैः देव, मानव, दानव एवं पशु कोटिसे भी निम्नस्तर की ओर बढ़ रहा है । अपनी श्रेयस्करी वस्तुओंको, अमूल्य भारतीय तत्वोंको निस्तेज, निस्तत्व, अग्राह्य, अनुपादेय समझकर अविदेकसे उन्मत्त होकर या उन्हें विस्मृतिके पथमें डालकर विनाशी, सर्वभक्षी, अमङ्गल-कारी तत्वोंको स्वीकार कर रहा है, उनका संग्रह कर रहा है । उनसे अपना सम्बन्ध स्थिर कर रहा है ।

(क्रमशः)

—बागरोदो श्रीकृष्णचन्द्रजी शास्त्री, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ